१०. परिषद् पिता : श्री प्रथमेश

परिषद् पिता : श्री प्रथमेश

पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद् की स्थापना १९०६ में हुई। २३ सितम्बर १०५६ को इसे अखिल भारतीय स्वरुप मिला। अप्रेल १९८१ से परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद् के रूप में कार्य कर रही है। यह सम्पूर्ण विश्व के पुष्टिमार्गीय वैष्णवों का सेवाभावी संगठन है। परिषद् शुद्धाद्वैत दर्शन और पुष्टिमार्ग के विशेष संदर्भ में भारतीय धर्म, दर्शन, सभ्यता एवं संस्कृति के संरक्षण, शोध और संवर्धन के लिये समर्पित संस्था है। परिषद् मानव-कल्याणकारी कार्य भी निष्ठा और सेवाभावना से करती है। समाज के पिछड़े वर्ग, ग्रामीण और अरण्यवासियों के विकास के लिये भी परिषद् सेवा-प्रकल्प चलाती है।

परिषद् को पूज्य प्रथमेशजी ने नई चेतना प्रदान की। परिषद् और प्रथमेश अभिन्न हो गये थे। परिषद् आपश्री को श्रद्धापूर्वक 'परिषद् पिता' के रूपमें स्मरण करती है।

परिषद् और प्रथमेश

अमर रहे यह पुष्टि पताका के गायक वल्लभ कुल भूषण गो. श्री १०८ श्री प्रथम पीठाधीश्वर रणछोड़ाचार्यजी महाराज अब हमारे बीच विद्यमान नहीं है किन्तु आपश्री का शुभ नाम अवश्य अमर हो गया है । आपश्री ने संप्रदाय और संगठन पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद् की अभिवृद्धि और हित के लिए पूर्ण तन्मयता, निष्ठा एवं समर्पित भाव से जो कार्य और त्याग किये तथा जो प्रेरणा प्रदान की उन्हें कभी भुलाया नहीं जा सकेगा । यह स्मृतिस्रोत निरन्तर प्रवाहित होता रहेगा और मार्गदर्शन प्रदान करता रहेगा ।

आपश्री का सम्पूर्ण जीवन सम्प्रदाय के उत्कर्ष और परिषद् की सुदृढ़ता तथा व्यापकता के प्रति पूर्ण समर्पित रहा आपश्री के चिन्तन उद्‌बोधन लेखन एवं कार्य सभी पे सदैव एक ही लक्ष्य दृष्टिगोचर होता रहता था । परिषद् का अभ्युदय इसी उद्देश्य की पूर्ति में आपश्री के जीवन का अधिकांश और महत्वपूर्ण समय व्यतीत हुआ । आपश्री ने कभी अपने समय की न स्वास्थ्य की, न द्रव्य की और न किसी अन्य निजी कार्य की चिन्ता की । निरन्तर पूर्ण लगन के साथ परिषद् कार्य में संलग्न रहे और सभी को प्रेरित करते रहे ।

आपश्री की दृष्टि में सम्प्रदाय और परिषद् एक ही सिक्के के दो पहलू रहे, दोनों एक दूसरे के पूरक। सम्प्रदाय के उत्कर्ष के लिए सुदृढ़ परिषद् और परिषद् के अभ्युदय के लिए सम्प्रदाय के सिद्धांतों का सही प्रचार व अनुसरण आवश्यक है । आपश्री की तो यही याचना और यही आज्ञा रही कि परिषद् का प्रत्येक कार्य भगवत सेवा का ही रूप है। आपश्री ने अपने जीवन में इसी भाव को सिद्धान्त रूप में मान्य किया और अधिव्यक्त किया तथा वैष्णव समाज को इसी ओर प्रेरित किया ।

इतना सब होकर भी आपश्री ने परिषद् का अध्यक्षपद कभी नहीं स्वीकारा । प्रचार कार्य में ही व्यस्त रहे । आपश्री की परिषद् के प्रति लगन, निष्ठा व कर्तव्य परायणता इतनी तीव्र थी कि अनेक महानुभावों की यह धारणा अथवा भ्रांति बन गई कि परिषद् तो प्रथमेश की है । जबकि वास्तविकता ठीक इसके विपरित थी । परिषद् तो प्रथमेश की नहीं किन्तु प्रथमेश परिषद् के अवश्य थे । परिषद् के प्रत्येक कार्य में और प्रत्येक गतिविधियों में पूर्ण समर्पित भाव से और सक्रिय रूप से भाग लेना और कार्यकर्ताओं को मार्गदर्शन देना आपका स्वभाव बन गया था । यही नहीं आपश्री अपने आचार्यपद की गरिमा के भी मूल्य पर परिषद् के हित में साधारण कार्यकर्ता के समान कार्यरत हो जाने में भी हिचकते नहीं थे ।

इसी कारण आप परिषद् के अनिवार्य अंग के रूप में मान्य होने लग गये थे । आपश्री तो सदैव ही कहा करते थे कि परिषद् मैं नहीं, सम्प्रदाय है । मैं केवल परिषद् का सदस्य हूँ । शुभेक्षु हूँ । न यह संस्था कभी मेरी थी, न है और न रहेगी ।

संगठन की पीठिका

- गो. श्री 'प्रथमेश' जी

पुष्टिमार्ग, जिसको कि आज से प्रायः ५०० वर्ष पूर्व श्री वल्लभाचार्य जी ने स्थापित किया था, आज ऐसी स्थिति में है जहाँ उसका स्वरूप स्थित रहना असम्भव है । एक ओर सामयिक परिस्थिति के कारण उसकी प्रगति मन्द हो गई है तो दूसरी ओर आचार्य तथा अनुगामी वर्ग परस्पर संघर्ष-रत होकर इसके विनाश का बीज वपन कर रहे हैं । किन्तु यह समय इस प्रकार बीती बातें दुहराने का नहीं है, वरन् समस्त मनोमालिन्य को दूर कर एकता से इसकी रक्षा करना ही समुचित जान पड़ता है । हमारे व्यक्तिगत रागद्वेष का यह समय अत्यन्त विरोधी है । अतः हमें उन सभी वातों को भूल जाना होगा जिनके द्वारा हमारे अन्तःकरण में एक दूसरे के प्रति घृणा हो गई है । आज हमें सहन करना है और सहन करना सिखाना भी है । ऐसा करने के लिए पर्याप्त मात्रा में शक्ति-संचय भी करना है । इस कार्य को सम्पन्न करने के हेतु हममें त्याग और सद्भावना का उदय होना आवश्यक है, जिससे विलग तथा शंकित मानव हृदय को पुनः समीप लाया जा सके, उसमें स्नेह उत्पन्न किया जा सके । यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो इसका परिणाम हमारे अंतिम चिन्ह तक को मिटा देगा । यदि हम यह कहें कि देश के हेतु हम कर्त्तव्य पालन करेंगे किन्तु हमारे लिये अब धर्म का कोई महत्व नहीं तो ऐसा कहना आत्म प्रवंचना होगा । यदि यथार्थ दृष्टि का अनुसरण करें तो देश सेवा, धर्म सेवा में किसी प्रकार का अंतर ज्ञात नहीं होता किन्तु दोनों का तात्पर्य एक ही वस्तु में है । जो कार्य देश सेवा से सिद्ध होगा वही धर्म सेवा से, यह निश्चित प्रायः है । हमें वर्तमान अवस्था से उन्नति कर सुख शान्तिमय स्थिति तक पहुँचना है । समाज की कुत्सितता को मिटाकर शुद्ध एकता स्थापित करनी है । यही दो प्रधान लक्ष्य प्रकृत में उपस्थित हैं । जिनकी सिद्धि होने से हमारा देश समृद्धिशाली सुखी तथा निश्चित हो सकता है । एक सूत्र में बंध सकता है । धर्म का अर्थ होगा समाज में स्थिरता सबलता उत्पन्न करने वाला तत्त्व और जब हमारा समाज सबल चिर स्थायी होगा तब सुख शान्ति स्वतः सिद्ध है । इस प्रकार विचार करने से देश सेवा का तात्पर्य धर्म सेवा में गतार्थ हो जाता है और दोनों के लक्ष्य में कोई अन्तर नहीं आता ।

यह पुष्टिमार्ग क्या है ? समाज को धारण तथा पोषण करने वाला प्रशस्त पथ । और इस पथ पर चलने का सिद्धान्त है शुद्ध अद्वैत । शुद्ध एकता का स्थापन करना । समाज को एक रूप में धारण तथा पोषण करने वाले सबल मार्ग को ही पुष्टिमार्ग के नाम से सम्वोधित किया जाता है । इसी हेतु आचार्य प्रयत्नशील थे । उसी समय की एक घटना विशेष का वर्णन करते हुए उन्होंने पद्य निर्माण किया है ।

'श्रावणास्यमले पक्षे एकादश्यां महानिशि ।

साक्षात् भगवता प्रोक्तं तदृक्षरश उच्यते ।।१।।

ब्रह्म संबंध करणात् सर्वेषां देह जीवयोः।(सि.र.)

इसका अर्थ यह है कि ---

श्रावण मास की निर्मला एकादशी को जब निखिल मानव को एक सूत्र में बांधने के हेतु सर्व श्रेष्ठ संबंध का विचार करते हुए मुझे जो इश्वरीय प्रेरणा हुई वही मैं अक्षरशः उल्लिखित करता हूँ या कहता हूँ । सभी जीवों को आत्मा के एक सूत्र में बांधा जाय अर्थात् उन्हें ब्रह्म संबंध कराया जाय । ब्रह्म की ओर प्रेरित किया जाय । जिससे वे स्वतः शुद्ध अद्वैत रूप में परिणत हो जायँगे, जहाँ उन्हें कोई भी शक्ति विलग न कर सके । इसी आत्म सम्बन्ध (ब्रह्म सम्बन्ध) के द्वारा समाज को स्थिर कर सबल शान्ति युक्त तथा सद्भावनामय बनाने के पथ को ही पुष्टिमार्ग कहते हैं । और उसके दृढ़तर सम्बन्ध को ब्रह्मसम्बन्ध कहते हैं । इस ब्रह्म शब्द का अर्थ होगा जो व्यापक है, जहाँ अज्ञान कृत समस्त मानव के भेद (उच्चावचत्व) नष्ट हों । आज आचार्यश्री अनुसरण कर्त्ता अपनी हीनता के कारण इस शुद्ध अद्वैत संबंध को मिट्टी में मिलाने का यत्न, राग द्वेष की भावना का प्रसार कर रहे हैं । यह आश्चर्य की बात है । जो लोग समाज में विष भरा प्रचार करते हैं और अपने आपको आचार्य का परम भक्त कह कर औरों की अवहेलना करते हैं । साथ ही आचार्य के प्रति उन्हीं सिद्धान्तों को लेकर विश्वासघात करते हैं । किन्तु हमें किसी की आलोचना नहीं करनी है । हम तो यह चाहते हैं कि आज की स्थिति सो समझ कर स्नेह पूर्वक सब भाई परस्पर गले मिलें और इस महनीय पथ का वास्तविक अनुकरण करने का दृढ़ संकल्प करें । यही सुख शान्ति का परम लक्ष्य होगा और हमारे आत्म कल्याण का सच्चा मार्ग, जिसे आज तक भारतीय परम्परा ने अपने अंचल में वैदिक काल से लेकर अब तक छिपाए रखा और जिसकी प्राण प्रण से रक्षा की । उस एकता के सिद्धान्त की रक्षा के हेतु यह कलह शोभा नहीं देता । वहाँ तो शान्ति पूर्वक पावन प्रेम से ही आत्मोत्सर्ग करना चाहिए । यही हमारे आचार्यों का भव्य सिद्धान्त है, जिसे हम आज भूल गए हैं । इसी को पुनः पुनः स्मरण करने के लिए ही तो ब्रह्मसंबंधात्मक गद्य दीक्षा की परम्परा चलाई थी । किन्तु दुःख है कि हमने उसे इस स्तर पर ला कर रख दिया है । परन्तु सुबह का भूला यदि शाम को भी घर आ जाय तो भूला नहीं कहते । इसलिये अव हमें हमारा वास्तविक घर खोजना चाहिए जिसमें सभी अपनत्व का अनुभव करें । जहाँ विराने भी हमारे हो जांय कि विरानापन उन्हें याद भी न रहे । यही शिक्षा हमें आचार्य वल्लभ के जीवन से प्राप्त होती है । जिस आर्य भाषा में **'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्'** इस प्रकार कह सकते हैं । यह अनेकता में एकता की भावना भारतीय संस्कृति की मौलिक वस्तु है । आचार्य ने व्यष्टि को समष्टि में विलीन करने का मुख्य करण ड़ैन्यात्मिका प्रपत्ति को माना है । इस उक्ति पर विचार किया जाय तो वल्लभ

सिद्धान्त भारतीय दर्शनों का सक्रिय रूप कहा जा सकता है । आचार्य की यह दृढ़ धारणा है कि समष्टिगत महान् तथ्य को प्राप्त करने में बिना दीनता तथा प्रपत्ति के कार्य साधन सम्भव नहीं । अतः सत्य की शोध में मानव को अत्यंत निरभिमानी और निर्लेप रहना आवश्यक है । मानव जगत में एकता संपादन करने में दैन्य तथा प्रपत्ति का महत्व अन्य की अपेक्षा किसी प्रकार कम नहीं । इन दोनों को निष्पन्न करके ही समाज वास्तविक शान्ति का अनुभव करने योग्य होगा । आचार्य वल्लभ ने जहाँ वैदिक तथ्यों का पालन किया है वहाँ संकुचित मनोवृत्ति को उदार भी बनाया है । केवल एक ही पक्ष को लेकर दकियानूसी का अनुसरण नहीं किया । पिछड़ी हुई जातियों के लिए भी आचार्यों के हृदय में कम स्थान नहीं था । उन्होंने उन्हें प्रोत्साहन देने का प्रबल प्रयास किया है । आचार्य ने अपने उदार सिद्धान्त में एक पञ्चम वर्ण ही बना दिया जिसमें सभी व्रर्ण समान रूपेण सम्मान के भाजन है, और समान भी । यह कुछ आश्चर्यकारक बात अवश्य है किंतु निर्मूल नहीं । यथार्थतः वास्तविकता ऐसी ही है ।

जिस तरह चतुर्थ वर्ण के विषय में आचार्य के विचार उदार थे उसी भाँति स्त्री जाति के वैपम्यात्मक स्तर को भी समानता का रूप देने में आचार्यों ने कोई बात नहीं उठा रखी । विशेषता तो यह है कि आचार्य ने कहीं-कहीं तो अर्ध-वैनाशिक और पूर्ण वैनाशिक वास्तव वादी तथ्यों का भी अपूर्व समन्वय किया है जिसे जान लेने पर हमें संतुष्ट ज्ञान होगा कि आचार्य में युग-पुरुष होने की क्षमता कैसी अनूठी थीं । मुगल संस्कृति से प्रथमतः सम्पर्क आचार्य ने ही स्थापित किया था । साथ ही उन्हें भारतीय संस्कृति से परिचित कराने का श्रेय भी उन्हें प्राप्त है । इन महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों को लक्ष्य में रखते हुए हम आचार्य के प्रति कृतज्ञ हैं ।

सच्चे अर्थ में वैष्णव बनना बहुत जरूरी है. जब तक वैष्णवता का जीवन में विकास नहीं होगा तब तक परिषद् और सम्प्रदाय की सेवा के साथ आत्मकल्याण भी नहीं हो सकेगा.

—प्रथमेश

श्री वल्लभ दर्शन तथा अन्तर्राष्ट्रीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद्

श्री वल्लभाचार्य का दर्शन, जीवन की विविधताओं को साथ लिए हुए एक जीवन दर्शन के रूप में हमारे सामने आया । साथ ही उन्होंने भगवान की दिव्य लीलाओं को भी विविध प्रकार का बताकर हमें यह समझाने का प्रयास किया कि मनुष्य के जीवन की विविधता है । यह विविधता अपने आप में एक ऐसी फुलवारी है कि जिसमें अनेक प्रकार के फूल खिले हुए हैं । इनकी सुगन्ध, इनका रूप, इनका रंग यह हमारे जीवन में शोभा बढ़ाते हैं । ये हमारे जीवन में विषमता पैदा नहीं करते और इसलिए हमें इस विविधता को समाज में लाकर के उसकी विविधता को स्वीकार करके समाज की विषमता को दूर करना है, अपने मन की विषमता को दूर करना है । यह विषमता हम कैसे दूर करें इसके लिए उन्होंने सबसे पहले यह आवश्यकता अनुभव की एक समर्पित जीवन की, एक सेवाभावी जीवन की आवश्यकता है समाज को और यह जीवन जो प्रभु को समर्पित है, जो अपने आप में परिपूर्ण जीवन है ।

जो सेवा करता है मगर स्वार्थ के लिए नहीं भगवान् के सुख के लिए उनके श्रम के निवारण के लिए, तो इस बात से एक प्रेरणा हम समाज में लेते हैं कि हमारी सेवा भावना समाज के प्रति, लोक के प्रति स्वार्थ पर आधारित न हो । उसके श्रम के निवारण के लिए होनी चाहिए। इस सेवा परायण जीवन के द्वारा उन्होंने अकिंचन भक्ति मार्ग को जन्म दिया । जो लोग अकिंचन हैं, गरीब हैं, जिन्हें हम असहाय कहते हैं, वस्तुतः उनमें एक आत्मविश्वास की जागृति की कि तुम लोग असहाय नहीं हो, आप सर्वसमर्थ हो, आपकी इस प्रेमलक्षणा भक्ति के द्वारा आप अपने जीवन का उत्थान कर सकते हो । अगर यह असहाय जीवन प्रभु को अपने पास बुला सकता है तो दुनिया की स्थिति, जीवन की स्थिति, समाज की स्थिति भी बदल सकता है । तो, इस प्रकार एक दर्शन के साथ उन्होंने जीवन की प्रेरणा हमको प्रदान की और साथ में यह बताया कि यह सेवा और यह प्रेम किसके लिए है कि ''जन हित जग प्रगटाई'' । यह कवियों ने इस संदर्भ में एक छोटी सी वात कही । मगर बड़ी महत्वपूर्ण वात है कि जो सेवा जन हित में नहीं है, जो प्रीति जन हित में नहीं है वह सेवा और प्रीति नहीं वन सकती ।

वस्तुतः इस प्रकार आचार्य श्री वल्लभ ने उन लोगों का आत्मविश्वास जागृत करके उनको सेवा रूपी श्रम शक्ति से परिचित कराया कि इसमें महानता है । अकिंचन होना अभिशाप नहीं है । यह वात जिस प्रकार उसमें आत्मविश्वास के लिए पर्याप्त थी, जागृत करने के लिए पर्याप्त थी उसी प्रकार उनको जीवन की प्रेरणा भी देती थी । साथ ही सम्पन्न लोगों को एक वात सिखलाई कि जो अपने आपको सम्पन्न समझते हैं, सर्वसम्पन्न

तो केवल भगवान हो सकता है या कोई Absolute perfect हो सकता है । अगर वह व्यक्ति, ऐसे सर्वसमर्थ ईश्वर भी इनके लिए आ सकते हैं, इनमें रहकर के इनके साथ मिलकर के इनका उत्थान कर सकते हैं और यही अगर प्रभु लीला बन सकती है लोक कल्याणकारी, तो हम अपनी सम्पन्नता का दुरुपयोग न करें, सदुपयोग करें, जीवन के उत्थान के द्वारा ।

इसके साथ ही श्री वल्लभाचार्य ने हमें एक संगठन की प्रेरणा दी । यह संगठन किन्हीं वर्ग विशेष पर आधारित नहीं था । संगठन के इस प्रकार में जहाँ सेवा को प्रधानता दी वहाँ उन्होंने यह भी समझाया हमें कि दुनिया में संगठन जब हम स्वार्थ के लिए करने जाते हैं तो टकराहट पैदा होती है । मगर हमें एक ऐसा संगठन तैयार करना है कि जो प्रेम से तैयार हो, निस्वार्थ तैयार हो, सेवा परायण संगठन तैयार हो । वह सेवा-परायण संगठन जैसे एक माता अपने पुत्र का काम करके प्रसन्न होती है, आनन्द का अनुभव करती है । इसी प्रकार प्रभु का कार्य करके, लोक कार्य करके प्रसन्नता अनुभव करे, आनन्द का अनुभव करे । और इस प्रकार हमको एक ऐसे संगठन की प्रेरणा दी जिसका उदाहरण हम देख सकते हैं वैष्णव जीवन में कि काबुल और कन्धार में यहाँ के व्यक्ति चले गये । यात्रा करते हुए और जब उन्होंने देखा कि ये हमारे वैष्णव यहाँ आए हैं तो बिना किसी पहचान के, बिना किसी हिचक के उनको अपने घर ले गए क्योंकि उनको असुविधा नहीं हो । यह बात केवल एक धर्म तक सीमित नहीं थी । मनुष्य, मनुष्य से मिलजुलकर रहे, उसके जीवन में सहायक बने और इसके साथ ही उसे आत्मीयता दे, इस बात का इस वार्ता से हमें परिचय मिला ।

यद्यपि हमारे धर्म को सोचने की प्रणाली अपने आप में एक ऐसी संकुचित प्रणाली बनती गई है कि जिसके द्वारा हम अपनी सहिष्णुता खो बैठे । यह शालीनता, वह विशालता खो बैठे जो वल्लभ दर्शन में वल्लभाचार्य ने हमें बताई थी, हमारे आचार्यों ने हमें बताई, हमारे मुनियों ने हमें बताई, हमारे ऋषियों ने हमें बताई । इसके साथ ही उन्होंने लोगों का आत्म गौरव बढ़ाया और साथ ही यह कहा कि आत्म गौरव का धर्म अभिमान नहीं हैं। अभिमान से आदमी टकरा जाया करता है । एक समर्पित जीवन आत्म गौरव तो प्राप्त कर सकता है । अभिमान उसके जीवन का एक बहुत बड़ा एक ऐसा दोष होगा कि जिसके द्वारा समाज को अलग-अलग कर देगा, समाज से बिछड़ जायेगा और वो उन्हें आत्मीयता और एकता प्रदान नहीं कर पायेगा । इसलिए आचार्य श्री वल्लभ का सर्व सम्पन्न ब्रह्म, सर्वसम्पन्न में-प्रभुता में ही तो अभिमान होता है, निरभिमान होकर के जन जीवन के पास आता है । जब स्वयं इतनी बड़ी सामर्थ्य जन जीवन के पास आती है इसी को हम अनुग्रह या पुष्टि कहते हैं । यही हमारे संगठन का एक आधार बनना चाहिए ।

संगठन का यह आधार लेकर के "अन्तर्राष्ट्रीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद" ने वर्षों से लोगों की सेवा करने का, संगठन करने का एक व्रत-संकल्प प्रारम्भ किया । यह कहना

नहीं होगा कि इसने बाल मन्दिरों का संचालन किया । इसने भक्तिवर्धिनी के द्वारा जन जीवन में प्रेरणा जागृत करने का प्रयास किया, छोटे-मोटे औषधालय चलाए । यहाँ तक कि आदिवासी लोगों में सेवा प्रकल्प भी चलाये क्योंकि भगवान ने हमें अपने जीवन के द्वारा मार्ग दर्शन किया । हमें यह बात श्री वल्लभाचार्य के चरित्र से भी जानने को मिलती है कि आचार्य इतने सम्पन्न होकर के भी जंगलों में ठहर कर के, शहरों से दूर रह करके जीवन की जागृति का कारण बने, उनमें प्रेम के संचार का कारण वने । यह 'परिषद्' इस प्रकार के एक माध्यम को लेकर के कोई वर्ग विशेष का या राजनैतिक संगठन तैयार करने के लिए उद्यत नहीं हैं । यह एक ऐसा संगठन करना चाहता है कि जो सहज संगठन है । सहज संगठन है और सहज जीवन है जो सहज जीवन में हो सकता है । इसलिए वल्लभाचार्य ने वैष्णव जीवन को कहा कि **''वैष्णवत्वं तु सहजम्''** एक सहज जीवन है । इसे बनावट से बचाकर के सहजता के साथ हमें निभाना है और इसके लिए उदाहरण कौन था कि वेद की श्रुति का जिसमें हमारे जीवन की वैष्णवता को साकार किया कि **''वैष्णवा वै वनस्पतयः''** वैष्णव कौन है ? कि वो वनस्पति है कि जिनका जीवन हमेशा दूसरों के काम में आता रहा है । यहाँ तक कि भगवान ने जबकि वे तालवन में पधारे, वृक्षों को देख प्रभु को आश्चर्य हुआ । आचार्य श्री वहाँ एक शंका उठाते हैं कि भगवान सर्वज्ञ, सर्वरूप उसको आश्चर्य कैसा ? उसे तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए । जब फिर इसका अर्थ क्या है ? उन वृक्षों को देख करके भगवान को यह लगा कि देखो इनका एक सेवा परायण जीवन । जिनके पास कुछ भी नहीं है फिर भी वे अपने स्तर पर जितना भी हो सके लोगों का उपकार करते हैं, उनकी हर एक चीज जनजीवन में काम आती है यहाँ तक कि प्रभु के भी काम जाती है । इनकी कोई स्तुति नहीं करता, इनका कोई यशगान नहीं करता मेरा न चाहने पर भी यशगान करते हैं । यहाँ आचार्यश्री ने हमको स्पष्ट बताया कि भक्ति मार्ग, प्रभु समर्थ है इसलिए उनका, यशगान नहीं करता । प्रभु हमारे हैं हमारे प्रिय हैं, हम उनके हैं यह आपसी तालमेल से उनका यशगान करता है और यह उनकी सहजता है । यह यशोगान कोई ऐसी बात नहीं है कि जो चाटुकारिता से निश्चित हो । इस प्रकार एक लीला के माध्यम से विविध भावों का समन्वय करके हमको आचार्य ने विविध विचारों का समन्वय करने की प्रेरणा दी ।

आज समाज को इस समन्वय की आवश्यकता है, पूरी जरुरत है और साथ ही अगर समय रहते हमने इसको नहीं पहचाना तो यह हमारे लिए एक अभिशाप सिद्ध हो सकता है । वल्लभाचार्य ने इस अभिशाप से हमको मुक्त किया । साथ ही उनके जीवन की उदारता देखिये कि अलीखान जैसे उनके शिष्य कि जो उनके पाण्डित्य से, उनकी भक्ति से, उनके जीवन से प्रभावित हुए । उन्होंने वैष्णवता स्वीकार की । वैष्णव धर्म का यशोगान किया । उसको समझने की चेष्टा की और जिस समय वह उनके सामने आते थे तव आचार्यश्री अपना प्रवचन प्रारम्भ करते थे । सहज बात है कि लोगों में इस प्रकार

की एक चर्चा हो कि इनके आने पर ही ऐसा क्यों होता है ? यहाँ एक बात का संकेत मिलता है कि इस प्रकार की जलन जो हमारे अंदर स्वाभाविक पनपती है यह हमें तत्वज्ञान और यथार्थ धर्म से दूर खिसकाती है हमें उसके नजदीक नहीं ले जाने देती है । जब आचार्यश्री से लोगों ने इसका निवेदन किया कि महाप्रभु इसका कारण क्या है ? तो जब अलीखानजी आए तो उनसे कहा कि "खान साहब मैंने कहा था, ये बता सकते हैं ?" तब बड़े निःसंकोच सहज भाव से उन्होंने उत्तर दिया कि "अगर आचार्य आज्ञा करें तो मैं कल की बात बताऊँ नहीं तो जब से प्रसंग चलता है तबसे प्रसंग का निवेदन करूँ ।" तो यहाँ यह समझने की बात है कि कोई हमारे ही वर्ग का व्यक्ति हमारी बात समझ सकता है, हम ही समझ सकते हैं, इस प्रकार का दावा हम न करें । कोई भी व्यक्ति जो गम्भीरता से किसी चीज को समझने की चेष्टा करता है वो उसे समझ सकता है, उसे आत्मसात कर सकता है । साथ ही ऐसी उनकी आराधना को स्वीकार करते हुए भी आचार्य ने हमको एक बात बताई । आज भी हम इस वार्ता को अलीखान की वार्ता ही कहते हैं इसे । यह हमको एक बात स्पष्ट बतलाती है । कि आचार्य ने धर्म से जाति बनाने के लिए अलीखान का नाम नहीं बदला । किसी का नाम बदल लेने से, किसी की बात बदल देने से वह व्यक्ति नहीं बदल जाता, फिर विचार नहीं बदल जाता, समाज नहीं बदल जाता । तो यहाँ आचार्यश्री ने एक गम्भीरता से हमको यह समझाने का प्रयास किया कि धर्म से जाति नहीं बनती ।

एक विशिष्ट बात है कि वर्ग से वन्धा हुआ धर्म नहीं है । धर्म एक ऐसी विचारधारा और जीवन दर्शन है कि जो मनुष्य के जीवन को ऊँचा उठाने के लिए हमेशा प्रयत्न शील रहा है और इसीलिए उनका आराध्य भगवान सर्वोद्धारक है । यह बात उन्होंने समझा करके हमें कहा है कि अब हमारा प्रभु सर्वोद्धारक है और अब जब हम प्रभु का कार्य करते हैं, उसे अपना मान करके, तो हम अपने प्रभु के सर्वोद्धार-स्वरूप को साकार करने के लिए सर्वोद्धार के लिए काम करना प्रारम्भ करें, यह भी हमारे एक सेवा धर्म का अंग है । तो इस प्रकार इन सब बातों को लेकर के वैष्णव परिषद् की प्रवृत्तियाँ विविधांगी रूप में प्रारम्भ हुई थी । परन्तु एक बात है कि हमेशा समाज में जब कोई आचार्य या महापुरुष होते हैं इसके बाद उनके विचारों में एक Anti thesis भी खड़ी हो जाती है । उसको लेकर के मनुष्य उनकी उस विचार सारणी को जब नहीं समझ पाते और अपने दुराग्रहों को उनके अंदर मिलाना चाहते हैं तब उसका स्वरूप वह सामने नहीं आता जो निर्मल रूप आचार्यों ने हमें प्रदान किया है । तो इसलिए यह संगठन उस निर्मल स्वरूप को सामने लाना चाहता है । वर्ग के द्वारा और किसी अन्य प्रकार से नहीं, यहाँ तक कि जोर और दवाव से भी नहीं । वल्लभाचार्य ने इस बात का उल्लेख स्पष्ट एक ग्रन्थ में किया, अपनी वाणी में किया । एक आचार्य होकर के भी उपदेशात्मक वाणी में नहीं, विनय भरी वाणी में कहते हैं कि **"सुज्ञेषु पुष्टहृदयेषु निवेदयामि"** जो सुज्ञ है, पुष्ट हृदय है

जिनका ह्रदय परिपुष्ट है ऐसे लोगों से मैं निवेदन करता हूँ ---- यदि आपको रूचिकर लगे तो इस मार्ग को स्वीकार करें । यह नहीं है कि यहाँ किसी ओर से दवाव से या Brain Wash करके भी अपने विचारों को थोपने का उन्होंने प्रयास किया है । तो यहाँ यह स्पष्ट बात बतलाई कि हमारी सेवा का तात्पर्य वह नहीं होना चाहिए । हमारे विचारों का तात्पर्य, हमारी भक्ति का तात्पर्य यह नहीं ।

इस तरीके से समाज का दिव्य संगठन हम इसे कहेंगे और इस संगठन के द्वारा हम जीवन की अनेक विधाओं को साकार रूप दे सकते हैं । जिसमें साहित्य, संगीत, कला, विज्ञान और समाज का एकत्रीकरण और उसे प्रेरणा देना है । यह सारी ही बातें इसे उनके दर्शन और सेवाधर्म के द्वारा साकार होती है । परिषद् ने इसका प्रयास किया । इस प्रयास को लोग भली भाँति समझें इसके लिए हमें निरन्तर प्रयास करना है । जो निरन्तर हमारा प्रयास है इसमें हमारे जीवन में हमको थकान का अनुभव नहीं करना है । इसके लिए हमको एक प्रेरणा दी, सूरदास के माध्यम से कहिए या स्वयं अपने माध्यम से कहिए --- उस सर्वसमर्थ का बालस्वरूप और बाल लीला । यह कहने का मतलब क्या है कि बच्चा खेलता है, खेलने में थकता नहीं आनन्द का अनुभव करता है, जीवन और जीवनी शक्ति प्राप्त करता है । इसी प्रकार हमें अपने जीवन और जीवनीशक्ति को प्राप्त करता है । तो इसलिए मुझे आशा है कि हमारा यह समाज, हमारे लिए तो सभी अपने हैं, जो हमें अपने नहीं मानते वो भी अपने हैं हमें मानते हैं वो भी हमारे अपने हैं । इस दिशा में इस परिषद् के संगठन के द्वारा एक सेवा कार्य प्रारम्भ करके जीवन से वर्ग संघर्ष, वर्ग विद्वेष समाप्त करेगा ।

[जयपुर प्रवास के समय ११ मार्च १९८८ को श्री वल्लभाचार्य जयन्ती के लिए दिया गया आपश्री का सन्देश -- अ. रा. पु. वै. परिषद् जयपुर की स्मारिका 'कृष्ण एवं गतिर्मम' से साभार]

मैं उन गैर जिम्मेदार आदमियों में से नहीं हूँ जो संस्था के पद से हटने के पश्चात् मुक्त हो जाते हैं. मेरा तो जो स्वधर्म है, वही संस्था भी है.

धार्मिक कार्यकर्ता का कर्तव्य

- गो. श्री 'प्रथमेश'

कितनी बार मैंने यह बताया है कि कार्यकर्ता होना एक तपस्वी जीवन का कार्य है और इससे सर्वश्रेष्ठ व्यवहार की हम प्रेरणा ले सकते हैं । कार्यकर्ता एक सेवा भावना वाला वह साधक और तपोधन है जिसके पास, भगवादाश्रय का दृढ़ विश्वास और अपनी संस्था के प्रति अडिग आस्था मन में होती है । वह स्वधर्म [संस्था] के विषय में अपने कर्तव्य का हमेशा (अवकाश मिलने पर) चिंतन करता है । उन विचारों में से काम के विचारों को वह लिखकर रखता है, जिससे संस्था के समक्ष अपने विचार प्रस्तुत कर सके।

कार्यकर्ता में दुराग्रह नहीं होता, वह किसी के प्रति पूर्वाग्रह भी नहीं रखता । उसका मन हमेशा, भगवदीय निर्मल मन होता है और उसको समय चातुर्य तथा बुद्धिमान होना आवश्यक है । फिर भी वह अनुशासित होता है एवं अतिबुद्धि-वादिता उसमें नहीं होती क्योंकि इससे जीवन में भ्रम पैदा होता है । और कर्तव्य से विमुख हो जाते हैं। ऐसी चर्चा जिनसे द्वेष बढ़ता हो कभी नहीं करनी चाहिए । सावधानी के लिए जो कुछ आवश्यक हो उतना कहना चाहिए किन्तु उन बातों में अपशब्द नहीं होने चाहिए । ऐसे शब्द सोचे बिना ही बोलने का अभ्यास करना चाहिए । यह वाणी का तप भी है और भगवद् भाव इससे अन्तःकरण में दृढ़ होता है । धर्म और संस्था को भिन्न नहीं मानना चाहिए उसे सेवा समझकर पवित्रता से करने का प्रयास करना चाहिए । आज इसकी कमी है और इसी से समाज अशान्त है ।

हमें साधनों के आधीन अधिक नहीं होना चाहिए । जो कुछ भी साधन हैं उनसे काम करने का भलीभाँति अभ्यास करें । अन्यथा साधन सापेक्ष, बुद्धि विवेकहीन हो जाती है । इसलिए उन साधनों का विवेक से प्रयोग करना चाहिए । संस्था की सेवा के लिए समय निकालना और उसके महत्व को हमको ज्ञात करना चाहिए । इसमें बहुत सी बातें व्यवहार आदि की "श्री हरिराय महाप्रभु ने शिक्षा पत्र में" व्यवहार एवं सेवा के आधार पर बतलाई है और "गीताजी" में भी इनका उल्लेख आता है किन्तु उनको इस दृष्टि से नहीं सोचागया, यही हमारे लिए बुराई का कारण बना है, नित्य के नियम इन सभी बातों की शिक्षा देते हैं । तभी जीवन पवित्र होता है और इनको नित्य नियम भी बनाया जाता है । यह कार्यकर्ता का काम है कि वह धर्म को स्थिरता से समाजोन्मुख करे या समाज को धर्मोन्मुख करे । हमारे आचार्यों ने हमको यही निर्देश दिया है, कि हम "भगवत्कार्य' के लिए उत्पन्न हुए हैं । अतः इसको भगवत कार्य ही मानकर चलना चाहिए । ऐसे पवित्र कार्य में शत्रु का हित भी विचारना होता है, यही सेवा धर्म की महानता है । यही राजनीति एवं धर्मनीति का अन्तर होता है । तभी धर्मनीति से जीवन भगवदीय बनता है ।

किसी की हँसी उड़ाना हमारा काम नहीं हैं । हमारा काम तो सहायता करना है।

यहाँ सेवा में सहायक बनना पुण्य है । इसके बहाने हम मनुष्य के सहायक बनते हैं । इसीलिए भगवान की सेवा के लिए पैसे नहीं देते हम तो मनुष्य की सहायता, सेवा के लिए करते हैं । यही हमारे जीवन का आनन्द है । जिससे हमको परमानन्द का सुख मिलता है, भूल मानव से हो सकती है उसको सुधारना ही धर्म है । किसी की कमजोरी का लाभ नहीं लेना चाहिए और उसको सेवार्थ सशक्त बनाना चाहिए ।

किसी भी कार्य (सेवा) के लिए हम बैठे हैं तो हम वहाँ से तभी हटें जब हम उस सेवा को दूसरे व्यक्ति को सौंप दें । फिर वहाँ से हटें तो प्रमाद नहीं होगा और यह शोभनीय तथा सेवा के स्वरूप के प्रति आदर भी होगा । जीवन जैसे खेल नहीं है, न हँसी-मजाक है, किन्तु जीवन में ये आ जाते हैं । इसलिए सेवा करने को भी ऐसी नहीं समझना चाहिए । यही उसके महात्म्य का ज्ञान है । फिर इससे उत्पन्न स्नेह की भक्ति में परिणत होता है जो स्वयं आनन्द एवं भगवद् रूप है । इसमें उसी सेवा से हमको परमानन्द का अनुभव करना है यही मानना साधना या आराधना है जो मानसी के निकट है चित्त वृत्तियों पर हमारा इससे नियंत्रण होता है, इसी से विरोध भी सिद्ध होने की विधि आचार्य श्री ने हमें बतलाई है । उसका यह व्यावहारिक स्वरूप आचरण करने के लिए "षोडश ग्रन्थ" "शिक्षापत्र" तथा अन्य स्थानों पर देखने पर मिल जाता है, इसलिए धर्म से व्यवहार भी सीखना चाहिए । साथ ही निष्कपट रहकर समझदारी से काम करना है। यह बात अजीब सी लगती है किन्तु यह विरुद्ध धर्माश्रयी होने पर भी परस्पर विरोधी नहीं हैं । चिन्तन करके देखिए फिर अनुभव कीजिए कि मनोबल एवं आस्था बढ़ेगी और आप निर्वेर रहकर भी वैसा ही काम कर सकेंगे ।

आए हुए का स्वागत करना हमारा धर्म है और वह उत्साह से करना चाहिए । उसमें कपट या स्वार्थ नहीं होना चाहिए । इसमें सच्चा स्नेह हो तो इसका प्रभाव स्वयं दूसरे पर पड़ेगा और आपको यश एवं पुण्य दोनों ही मिलेंगे । यह सरल विधि है, "हृदय परिवर्तन" करने की और इससे मन की शक्ति बढ़ती है । इसके विपरीत होने पर उद्वेग और अविश्वास बढ़ता है । इसका प्रथम कष्ट स्वयं को होता है । यह अनुभव से ज्ञात होगा । यह सबसे पहले समझने की बात है कि धर्म का आचरण विवेक पर निर्भर करता है । यह बात श्री वल्लभाचार्य हमें प्रेम से समझाते हैं और इसको समझ कर साधना करने का अभ्यास करना चाहिए । इसके लिए साधना शिविर भी लगाइए और कभी-कभी शनिवार, रविवार को कार्यकर्ता शिविर भी रखिए जिसमें मनोरंजन के साथ इसका प्रशिक्षण भी आप प्राप्त करें । परन्तु मनोरंजन में बहक मत जाइए यही कमजोरी होगी । इसका यथोचित उपयोग होने पर शक्ति मिलती है अन्यथा क्षीण होती है । यह आज प्रत्यक्ष है इससे विना लाये, विचार करने का भी आप अभ्यास कर सकेगें । यह विधि विचारक और व्यवहारक के साथ ही धार्मिक के लिए भी आवश्यक है । इसी से ही विचार एवं निष्कर्ष निकल सकते हैं अन्यथा आप स्वयं ही वहक सकते हैं । इसकी धार्मिक और व्यावहारिक दोनों ही प्रेरणा आप नवरत्न ग्रन्थ के मंनन से ले सकते हैं । कठिनाई तभी आती है जब हम धर्म का एक पक्षीय विचार करते हैं तब और उसके स्वरूप की व्यापकता को नहीं समझते । इसी प्रकार ग्रन्थों में भी तीन प्रकार की सृष्टि बताई है । और त्रिविधात्मक

विचार हैं तब व्यवहार का रूप भी सेवा और स्वधर्म के साथ ऐसा ही होगा जिससे उसमें सभी का सभी प्रकार के अर्थों का सरल और निष्कपट भाव से समन्वय हो सके तभी तो भगवदीय जीवन में भी फलात्मकता लाने का उपदेश दिया है अन्यथा यह जीवन ही निष्फल हो जाता है । हमारी मान्यता या समझ की और बात है किन्तु सार्थकता का अर्थ तो इससे भिन्न ही है ।

आगे चलकर यह भी आवश्यक होगा कि हम समाज की रचना के जटिल प्रश्नों को धर्म के अनुसार सुलझाने का प्रयास करें अन्यथा हमारा जीवन और समाज निर्धमक संस्कृति हीन सत्यता से भ्रमित हो जायेगा । आप इस पर स्वयं अनुमान करने का कष्ट करें । इससे हमारा व्यवहार, संस्कार और आपसी लेन देन सभी आ गया है । इसका विचार आवश्यक होगा । इसको सोचकर साहस से किसी भी विधि का आचरण करना होगा । हो सकता है कि समाज में हमारे ही व्यक्ति इसका विरोध करें । किन्तु धर्म एवं संस्कृति की रक्षा के लिए ऐसा करना ही आवश्यक है तो यह विवेक से धर्माचरण ही कहलायेगा । फिर भी जीवन की मौलिक मर्यादाओं का हमें निरन्तर विचार करना होगा। ऐसा न करने पर भूल से भटकने की संभावना है । इस बात को हम आज सामाजिक रिवाजों में देख रहे हैं ।

जैसे हम अपना विचार करते हैं वैसे ही हमको भगवान या देवाधिदेव के सुख का विचार करना चाहिए । यह बात यही बताती है कि हमको दूसरे पक्ष को सोचकर ही हमारा काम करना है और उसके सुख का पहले विचार करना है तभी हम सच्चे कार्यकर्ता या भक्त और सही अर्थों में सेवक बन सकते हैं । एक सच्चा कार्यकर्ता और भक्त में विशेष अन्तर नहीं होता यह समझ कर चलना चाहिए । इन दोनों की दिशा एक ही है। स्थान अलग-अलग हैं । भक्त की अपनी आकांक्षा क्या है इसको पहचानिये और भक्त के लक्षणों को व्यवहार में लाने का विवेक से उपाये करें तो आप में सहज ही गुणों का विकास हो जायेगा । वार्ता साहित्य में आता है कि गज्जनधावन श्री नवनीतप्रिय के साथ खेल में घोड़ा भी बने और उसके गुणधर्म प्रकट करने लगे । इसका यही अर्थ है कि हमको कुछ भी वैसा बनना पड़ सकता है तब भी उसमें हमारा मूल उद्देश्य तो अपने स्थान पर ही स्थित रहता है नहीं तो वह स्थान से ही डिग जाता है । आज कुछ ऐसा होने लगा है इसलिए इसमें सावधानी की जरूरत है । तभी हमारे मूल स्वरूप और अस्तित्व की रक्षा निर्वैर भावना से हो सकती है । आज आन्तरिक स्वरूप खोता जा रहा है और अभी बाहरी स्वरूप के दर्शन से भी हम सही मौलिकता का अंदाज नहीं कर सकते यही विरोधाभास हमारे आचरणों से प्रकट हुआ है । इसको हटाने पर हमारा कार्य निश्चित ही सिद्ध होगा। आचार्य श्री की वाणी और भगवान पर आस्था रखते हुए आप इसे विचार कर स्वधर्म सेवा में तत्पर बनें यही कामा है । कुछ व्यक्तिगत अनुभव और साधनायें आपको कही हैं इनके अंगीकृत करे का प्रयास करें ।

हमारा रचनात्मक कार्य

- पू. पा. गो. प्रथमेश जी

किसी कार्य के प्रारम्भ में संगठन को सशक्त बनाना ही उसकी स्थिरता की नींव है। इसमें जो मुख्य आधार शिला है वह कार्यकर्त्ता हैं जिनका निष्ठावान होना आवश्यक है ।

जब भी समाज में ठोस कार्य करने की बातें होती हैं तब उसकी आधारशिला की बातों को भुला दिया जाता है ।

संगठन में जिस सहृदयता के साथ आत्मीयता की भावना होनी चाहिए वह राजनीति के कुप्रभाव तथा अहंकार के कारण नहीं आ सकती है । जिससे भविष्य में विगठन होता है ।

प्रथम हमें कार्यकर्त्ता का ही निर्माण करना चाहिए यही ठोस कार्य करने की पहली सीढ़ी है ।

दूसरा सोपान है व्यवस्थित कार्यक्रम देना । इसके अभाव और आपसी फूट तथा तकरार से बड़े से बड़ी वस्तु नष्ट हो जाती है । इस फूट एवं अहंकार से होने वाली तकरार को विवेक, धैर्य और भगवदाश्रय से ही रोका जा सकता है । श्री वल्लभाचार्य के इस उपदेशात्मक ग्रंथ को जीवन में उतारने का अभ्यास करना चाहिए ।

धार्मिक संगठन के कार्यकर्त्ताओं को धार्मिक सिद्धान्त जीवन में लाने का पूरा प्रयत्न करना चाहिए । यदि हमें महानता प्राप्त करनी है और संगठन को दृढ़ बनाना है तो उसे शुद्ध धर्म बुद्धि से ही बनाना चाहिए तभी वह उपकारक और उपयोगी हो सकता है । यदि व्यवहार बुद्धि और कपट का आश्रय लिया जाए त ऐसे संगठन उद्देश्यहीन होकर समाप्त हो जाते हैं ।

आज हमारे समाज में सबसे बड़ी यही कमी है कि जिससे वह कोई रचनात्मक कार्य नहीं कर सकता । प्रायः ठोस काम की बातें करने वाले सुझाव तो दे सकते हैं किन्तु स्वयं उस दिशा में आगे बढ़ना नहीं चाहते या नहीं बढ़ पाते । उनके विचारों को भी तभी क्रियान्वित किया जा सकता है जब हमारे पास सक्रिय कार्यकर्त्ता निष्ठा सम्पन्न हों हमारा संगठन विशुद्ध बुद्धि पर आधारित हो तभी हम कार्य में सफलता प्राप्त करने में सक्षम हो सकते हैं ।

यह सोचना उचित नहीं है कि लोग सुझाव तो दे देते हैं किन्तु वे कार्य नहीं करते। मनुष्यों में सभी प्रकार की सृष्टि होती है यदि हमें संगठन करना है तो जो भी, जैसे भी हैं उनको साथ रखकर ही चलना उचित है । मतभेद या आलोचना का एक सीमा तक उपयोग अवश्य है वह समझना जरूरी है । ऐसी बातों की उपेक्षा सदा नहीं की जा सकती।

न यह दूरदर्शित है । ऐसी बातें हमें सक्षम बनाती हैं फिर भी हम उनको मान्य तभी कर सकते हैं जब उनमें से विरुद्ध अंश का त्याग कर दें यह श्री वल्लभाचार्य की सूचना है । आज तक का मेरा व्यक्तिगत अनुभव है कि हमारा समाज किसी लेख, समालोचना और ग्रंथों को व्यावहारिक रूपसे यथार्थ रूप में समझ नहीं पाता । इसमें उपर्युक्त कारण ही बाधक दृष्टि उत्पन्न करते हैं ।

ग्रंथों को सुनना, अध्ययन करना और उपदेश देना या लेना (तात्कालिक) और बात है । किन्तु वैसा व्यवहार, विचार एवं अंतःकरण बनाना ही इसका महत्वपूर्ण अंग है । कोई भी संस्था अथवा आयोजन अपने मूल उद्देश्य से इन्हीं कारणों से भ्रष्ट हो सकते हैं । अन्य कारण इन्हीं के अंग हो जाते हैं ।

यह बात नहीं है कि काम नहीं हो रहा है या होता नहीं है । बात में मुख्यता यह है कि उसका परिणाम क्या और कैसा होता है । यही विषय विचारणीय है । एक छोटा शिलालेख लगाने के पीछे भी उसके स्थायित्व की कामना नाम के साथ निहित होती है इसी प्रकार परिणाम का भी विचार करना उचित है । इस दृष्टि से सभी व्यक्ति स्थायित्व की आशा तो करते हैं किन्तु उसे चिरस्थाई नहीं बना पाते उसमें कार्य प्रणाली के साथ विगठन और अलगाव की भावना ही प्रधान होती है । जिसमें विवेक एवं धैर्य का अभाव और परायापन निखर आता है । किन्तु संस्था करती है वह हमारा संप्रदाय या व्यक्ति ही कर रहा है यह सामञ्जस्य एवं भावना होनी अनिवार्य है ।

हम यह मन से स्वीकार करते हैं कि अ. भा. पु. वैष्णव परिषद् ने जो भी अच्छा किया है वह सभी का कार्य है और हमारे द्वारा उन सब लोगों ने ही किया । इसमें आलोचना करना व्यर्थ की बात है जिसमें विखंडन की भावना स्पष्ट निहित है । जो इससे विपरीत विचारते हैं यह उचित नहीं है । और ऐसा सोचना भी अस्थाने है । ऐसी भावना या विचार सभी दृष्टि से हीन तथा बाधक हैं । साधक नहीं हो सकते । क्योंकि इनके द्वारा मनोमालिन्य एवं परिणामतः अशान्ति ही मिलती है । इसमें हित की अपेक्षा अहित ही अधिक होता है । हम इसे निर्विवाद तथ्य मान कर चलें तभी श्रेय का मार्ग प्रशस्त होगा । संस्था का अर्थ श्रेय को प्राथमिकता देना है जिसमें प्रेयस्वतः सिद्ध हो जाता है । यहाँ धर्म बुद्धि एवं नीति हमें श्री वल्लभाचार्य विरासत में देते हैं।

यदि हमारा समाज उनके ग्रंथों का सही रूप में अध्ययन करेगा तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगा । यह महत्वपूर्ण बात है कि हमें धर्म का व्यावहारिक पक्ष भी सोच कर उसे जीवन में लाना चाहिए । यही आचरण पक्ष में आचार्यश्री का निष्कर्ष है । किन्तु बनावटी या कृत्रिमता इसमें सर्वथा ही बाधक होगी यह सदा स्मरणीय है । इसलिए परिषद् को समाज से भिन्न मानना सर्वथा अनुचित है । ऐसी भावना हमारे मन में कभी नहीं आनी चाहिए। इतना ही नहीं किन्तु स्वभाव वश आ भी जाए तो उसे तत्काल मन से निकाल देना विवेक पूर्वक हटा देना चाहिए । तभी हम अपने कर्त्तव्य में सफल होकर महान् काम कर सकते हैं ।

छोटी - मोटी शिकायतें होती ही रहती हैं । यह हमारे अस्तित्व को सशक्त बनाती हैं । ऐसी बातों को आत्मीयता से सोचना चाहिए तभी इनकी उचित एवं अनुकूल प्रतिक्रिया हम पर होगी और इसी से हम सफलता की ओर आगे बढ़ेंगे । हमें यह भली भाँति समझ लेना चाहिए कि आज की राजनीति जैसी छिछली भाषा और विचार हमारे काम के नहीं हैं । न यह भावना और दृष्टिकोण एवं वातावरण ही उचित है । यह बात केवल दिखावा के लिए नहीं लिख रहा हूँ । यह एक वास्तविकता और अनिवार्य तथ्य है ।

यह कभी संभव नहीं हो सकता कि परिषद् का कार्य उसके कार्यकर्त्ताओं तक ही सीमित है । उसके यश में समस्त समुदाय निर्विवाद रूप से सम्मिलित है। यदि इसमें दूषण हो तो हमारे कार्यकर्त्ताओं को प्रसन्नता के साथ उन्हें अपने ऊपर ले लेना चाहिए । यही पुष्टिमार्गीय भावना का स्वरूप है । हम इसे नजर-अंदाज नहीं कर सकते । श्री वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त "अविकृत परिणाम वाद" का व्यावहारिक यही रूप है जिसका समर्थन हमें वार्ता-साहित्य से मिलता है । तभी वह घोषणा **"धावन्निमील्यु नेत्र वा न पतेन्न स्खले दिह"** आँख मूंद कर दौड़ने पर भी इससे पतन या स्खलन नहीं होगा । यही सार्थक होगी । इस विषय का सतत चिंतन हमें करना चाहिए । ऐसा व्यवहार एवं स्वधर्म दोनों ही दृष्टि से कर्त्तव्य है । मुझे कोई भी कुछ कहता हो उससे मेरा कोई तात्पर्य नहीं, किन्तु यह मेरा दृढ़ मन्तव्य है जिसे अपना ही समझकर आपके सन्मुख प्रस्तुत कर रहा हूँ । इसमें परिवर्तन की सम्भावना नहीं है ।

संस्था की रक्षा करना इसी दृष्टि से हमारा कर्त्तव्य है । उसमें अन्य या अन्यथा भावना नितांत अनुचित एवं दूषित वृत्ति पर आधारित है ।

ऐसी बातों को कभी प्रश्रय नहीं देना ही विधर्म से निवृत्ति का मूल स्वरूप है । यही मान्यता एवं वास्तविकता है जिसे स्वीकार करकेही चलना चाहिए ।

आशा है इस अनुरोध पर अपना समझ कर कार्यकर्त्ता विचार करेंगे ।

(श्री वल्लभ स्वर १९८१ से)

मेरे रक्त की अन्तिम बिन्दु भी आचार्य चरणों को ही समर्पित है, चाहे लोग मुझे किसी भी रूप में समझें.

—प्रथमेश

आप ही सोचें क्या यह ठीक है ?

- पू. पा. गो. श्री प्रथमेश जी

सम्प्रदाय के संगठन में मूलतः वैष्णवों की प्रवृत्ति एवं अहंकार ही वाधक है । मिथ्याचार और हुकूमत की भावना और स्वेच्छाचारी वर्तन की आन्तर आकांक्षा ही इसके अन्दर छिपी हुई है । द्रव्य का, कार्यशक्ति का और अन्य प्रकार का अभिमान जीवन में बाधक होता है इसका अनुभव करते हुए भी उसे धार्मिक क्षेत्र में भी छोड़ने को तैयार नहीं है । ऐसे दूषित अन्तः करण में भगवद्भाव कैसे आ सकता है ।

आज के इस विगठनात्मक वृत्ति के युग में समाज, परिवार राष्ट्र एवं अपनीवृत्ति का नियंत्रण धार्मिक विवेक से किए बिना धार्मिक जीवन की महत्ता का ज्ञान नहीं हो सकता। धर्म केवल परलोक का ही साधन नहीं करता वह व्यवहार की निष्कपट शिक्षा हमें देता है। जबसे हमारे समाज ने कपट और छलना का सहारा लिया है जीवन में अविश्वास और अशांति बढ़ी है । फिर भी मनुष्य इससे कोई शिक्षा नहीं लेता और अपने द्वारा बुने गये झूठे आडम्बर का ही सहारा लेने में ही आत्म-कल्याण समझ रहा है । श्रद्धा और विनय की अपेक्षा जिस क्रूरता को और छलबल को प्रश्रय दिया जा रहा है वह आचरण, विचार के विवेक का विनाश करके मानव की पाशविक प्रवत्ति को ही बढ़ावा देगी इससे और आशा नहीं की जा सकती ।

धार्मिक जीवन की जो अनुशासन बद्धता है उसके स्वभाविक रूप का विश्रृंखलन हमारे दलगत स्वार्थों ने कर दिया है और आचार्य श्री वल्लभ की वाणी **''लाभ पूजार्थ यत्नेषु''** इसका प्रत्यक्ष दर्शन होता है । समझ में नहीं आता कि इतना प्रबुद्ध वैष्णव समाज एवं इसके माननीय विद्वान् और आचार्य इस युग की गम्भीर स्थिति को समझ कर क्यों उदासीन हैं ।

लोग समझते हैं कि प्रवचन और प्रचार से धार्मिकता आती है किन्तु ये बाहरी आवरण हैं । वस्तुतः ऐसे धर्म श्रोता देखने में नहीं आते जिनके जीवन में श्रवण का प्रभाव दिखाई देता हो । दूसरे अर्थों में यह कहा जा सकता है कि धर्म की महत्ता मनोरंजन से अधिक नहीं, न्यून है । मनोरंजन के हेतु जैसा लौकिक, शारीरिक एवं आर्थिक त्याग मनुष्य करता है और उससे शतांश का त्याग कभी धर्मार्थ या अन्य दृष्टि से मनुष्य नहीं करता, अधिक हुआ तो किसी दवाव अथवा अपनी ख्याति के लिए द्रव्य का दान भले ही कर दे किन्तु उसमें धर्मवुद्धि और श्रद्धा का स्थान नहीं होता । ऐसी स्थिति में आत्मीय भावना तो भगवान् एवं भगवदीय-धर्म या सेवा के प्रति कैसे हो सकती है ।

आचार्यश्री की धर्म भावना ही प्रमुख थी किन्तु वर्तमान में केवल प्रदर्शनात्मक धर्म ही दिखाई देता है । श्री महाप्रभु तो धर्म का फल अन्तःकरण का परितोष ही मानते हैं। इसलिए जब शुद्ध बुद्धि से धर्म नहीं होता तो उसका परिणाम भी विपरीत ही होगा ।

आज के समाज में उद्वेग और धर्माचरण करने पर भी असंतोष एवं अन्य जो दुर्भावना एवं दुर्व्यवहार दृष्टिगत होता है इसका यही कारण है । यदि आज की भावना से धार्मिक दृष्टि का ग्रहण किया जाय तो धर्म तो क्या मानवता भी शेष नहीं रहेगी । यही कारण है आज धार्मिक प्रचार आचार्यों के पद चिन्हों पर चल के नहीं हो रहा है । इसी का परिणाम है हमारे बहुत बड़े पिछड़े हुए क्षेत्र धर्म, कर्म एवं आचरण में हमारी संस्कृति से अलग हो गए हैं । आचार्य श्री वल्लभ ने जिस जीवन दर्शन और निस्साधन भक्तिमार्ग का प्रचार समस्त देश में तीन बार भ्रमण करके किया था आज उसका मूल रूप धनिकों के स्वेच्छाचार पर बिक चुका है । अतः यह शुद्ध बुद्धि नहीं है । यदि इसी दृष्टि से धर्म किया जाए, तो धर्म का मूल रूप ही विकृत हो जाएगा ।

एक स्थान पर औषधालय के लिए कुछ द्रव्य मांगा गया तो यह उत्तर मिला कि यह तो दूसरे गांव का है यदि हमारे गांव में होता तो धन देते । अब इस भावना में यही कारण स्वार्थ के रूप में प्रत्यक्ष होता है । जहाँ हमारा लाभ या नाम हो वहीं कार्य क्षेत्र है।

धर्म तो आडम्बर हीन जीवन की वह वास्तविकता है जिससे आचार एवं विचारों का निर्माण होता है । गायत्री से प्रेरणा की धर्म भावना श्रीमद् वल्लभाचार्य भाष्य में स्पष्ट रूप से लिखते हैं ।

इसी से भगवान् का सर्वप्रेरक एवं सर्वहितकारी स्वरूप का लोक में साक्षात् होता है। यही धर्म की धर्मिमूलकता है जिसे आचार्य स्वीकार करते हैं । आज का वैष्णव समाज इसको सर्वथा भूल चुका है । इस तथ्य की गहनीयता का चिंतन आज बहुत ही आवश्यक है । -

प्राचीन युग में वल्लभ संप्रदाय के आचार्यों ने हमारे ग्रामीण क्षेत्र में घूमकर ही धर्म प्रचार करके अपना आचार्यत्व और धर्म सुरक्षित रखा है अन्यथा वे एक आदर्श धनिकों के दास मात्र रह जाते । मध्यकाल में राज सम्मान प्राप्त होते हुए भी केवल राज्य के रुपयों पर या धनिकों के धन पर ही धर्म स्थानों का गुजारा नहीं हुआ है । उसमें उन निस्साधन भक्तों के कठोर परिश्रम का ही द्रव्य और सेवा एवं समर्पण ही धर्म की स्थिति और उन्नति का मूल कारण है । यह वार्ता साहित्य और इतिहास हमें सूचित करता है । आज भी हमें श्रीमद् वल्लभाचार्य की भाँति ही प्रभु को अपनी छाती से लगाकर गांवों में घूमकर धर्म प्रचार और सदाचार की शिक्षा देनी चाहिए यही धर्म की शाश्वत् स्थिति का आधार ऋषि और आचार्य परम्परा में दृष्टिगत होता है । परिषद् के अकिंचन कार्यकर्ता और हमारे आचार्य एवं विद्वानों को यह बात मन में दृढ़ करनी है । जिन लोगों ने विगठन करके परिषद् के संगठन का हमेशा विरोध किया है वे आचार्य के महोदार चरित्र को भूल गए हैं । हमें पुनः इसका सतत स्मरण करना चाहिए ।

(श्री वल्लभ स्वर अप्रेल १९८२ - देवी रानी खट्टर से प्राप्त)

परिषद् संगठन की आवश्यकता

पूज्यपाद गो. श्री प्रथमेशजी

आलोचक वैयक्तिक स्तर से निम्न कक्षा में पहुँच जाता है वहाँ उनकी हीन मनोभावना का ही दर्शन होता है । उस हीन मनोभावना को केवल स्नेह से ही दूर कर सकतें हैं । यदि भगवदिच्छा से संस्था के प्रति जो भ्रम है वह दूर हो जाय और संगठित होकर वल्लभीय सृष्टि श्रमशक्ति का संप्रदाय की सेवा में विनियोग करे तो पुष्टमार्ग की कई समस्याओं का समाधान हो जायगा । इतना ही नहीं किन्तु वल्लभीय समाज आधुनिक युवावर्ग को सत्ता सरल एवं सुन्दर मार्गदर्शन भी दे सकता है । किन्तु प्रतीत होता है कि ऐसी शक्ति के सदुपयोग के अभाव में संप्रदाय को लाभ अपेक्षा हानि ही विशेष रूप से हुई है । इसके कुछ कारण निम्नलिखित हैं ---

(१) वर्तमान में साम्प्रदायिक साहित्य के ज्ञान हेतु केन्द्रों का अभाव है ।

(२) प्राच्य पाठशालाएँ बन्द हो रही हैं ।

(३) वर्तमान में विद्वान प्रचारकों का अभाव है ।

(४) निष्ठावान् कार्यकर्ताओं की कमी है ।

(५) जेठानंद आसनमल, रूपसी माधवजी एवं अन्य साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट बनें किन्तु लाभ समाज को पूर्णतया न मिला ।

(६) नवीन हवेली मन्दिर निर्माण की लहेरों में सेवा, सदाचार या सिद्धान्त रक्षा की अपेक्षा व्यावसायिकता की ही झाँकी होती है । फलस्वरूप संप्रदाय में कार्यशक्ति व द्रव्य शक्ति का दुरुपयोग हुआ साथ ही भक्ति का सद्उदेश्य पीछे रह गया ।

ऐसी परिस्थितियों का एवं प्रश्नों का समाधान प्राप्त करने का एकमात्र विकल्प है संगठन । संगठन उन लोगों का, जो कि सेवा भावी हों, त्याग-भाव वाले हों एवं समर्पित हों । पूंजीवादी एवं अहंकारियों से यह कार्य नहीं होगा इसलिये वैष्णव परिषद् की आवश्यकता है । इसलिये धर्मचार्यों से आशा रखता हूं कि वे एक मंच पर संगठित हों। अपने कार्य में सद्भाव एवं व्यवस्था दोनों का समावेश हो । तभी आचार्य एवं विद्वद्गण सहयोगी वनेंगे ।

आज पर्यन्त वैष्णव परिषद् की प्रगति को रोकने का कार्य कई लोगों ने किया । बाधा डालने वाले सफल इसलिये रहे कि परिषद् के पोषणकर्ता, एवं कार्यकर्ताओं की एकनिष्ठा का अभाव, आचार्य वालकों ने एवं तथा कथित महानुभावों ने केवल भ्रांति ही उत्पन्न की । द्रव्याभाव से कई कार्य रूक गये । मिथ्या भाषण एवं मिथ्या व्यवहार, उत्साहवश धर्म की केवल वातें करने की वृत्ति देखी किन्तु स्वधर्म सेवा व अन्य कार्यों में स्पष्टता ही न दिखाई दी ।

आज के युग में संगठन की महत्ता सर्वमान्य है किन्तु स्वेच्छाचारी वैष्णवजन एवं उनके कर्णधार विगठन में विश्वास करते हैं वह अत्यंत खेदजनक है ।

''अंहता ममतानाशे सर्वथा निरहंकृतौ'' महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजी के इस सुंदरतम सिद्धान्त को स्वीकार कर अपने सेवा एवं समर्पण के मार्ग में संगठन सिद्ध करें ।

'पुष्टिमार्ग' जीवन दर्शन व जीवन प्रणाली है जिसमें हर कदम पर अपने प्रेमास्पद प्रभु के साथ अपना जीवन जुड़ा हुआ है । केवल बातें करने से धर्म सिद्ध नहीं होता है किन्तु व्यवहार एवं वर्तन से, आचरण से सिद्ध होता है । आचरण से वैष्णवता सिद्ध होती है । स्नेहात्मक संगठन में गालियाँ भी प्रिय लगती है । अलौकिक, कलात्मक, आधिदैविक एवं आध्यत्मिक दृष्टि से विगठन की अस्मिता युक्त दूषितवृत्ति का उज्ज्वल भक्तिमार्गीय संगठन में क्या काम ?

प्रबंध लोलुप धनिकों से या तो अपने वर्चस्व की आशा से, दान या सेवा करने वालों से पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों की रक्षा होना असंभव है । इसलिये विश्वव्यापी सेवाभावी संगठन अनिवार्य है ।

जब तक ''मैं सेवक हूं अन्य नहीं'' यह मान्यता कार्यकर्त्ताओं में नहीं आयेगी तब तक संप्रदाय का विभाजन एवं आचार्यों की अभिमानवृत्ति से पुष्टिमार्ग छिन्नभिन्न परिस्थिति में पहोंच जायगा ।

भावना एवं शास्त्रों का समन्वय साधते हुए कर्त्तव्य परायण कार्यकर्ताओं की आज आवश्यकता है और इस प्रकार के निष्ठावान लोग परिषद् को सम्भाल लें ।

आज हमें वैष्णवों के स्वधर्म रक्षा कार्य में सहयोगी होने की आवश्यकता है । आचार्य बालकों एवं विद्वानों की गरिमा, आचार रक्षा व प्रशिक्षण केन्द्रों का निर्माण करके आचार्यों को व विद्वानों को ससम्मान करते हुए धर्मबोध कराने की व्यवस्था करनी चाहिए। यह कार्य वैष्णव संगठन से ही हो सकता है ।

आज सबका कर्तव्य है कि ''संगठन से शक्ति, सदाचार एवं सद्व्यवहार बढ़ायें एवं अनुचित मार्ग का त्याग करें ।'' इस लेख से अगर किन्हीं आचार्य या वैष्णव रोष में आ जाय एवं पूर्वा ग्रह से विचार करें तो भी परिषद् के कार्यकर्त्ताओं को तो **''रोष द्रक पात् सप्लुष्टः''** रोष दृष्टि से आचार्य भक्तों के दोषों को दूर करतें हैं । इस प्रकार की भावना से श्री प्रभुचरण के निर्देशानुसार कार्य करना ही फर्ज है ।

(मूल गुजराती से हिन्दी भावानुवाद श्री निरंजन शास्त्री उमरेठवाला के द्वारा ।)

परषिद् तो किसी भी आचार्य का विरोध करने की स्वप्न में भी नहीं सोच सकती. हमारा लक्ष्य संगठन करना है, अतः विरोध मिटाना हमारा कार्य है.

—प्रथमेश

धर्माचार्यों के बीच गो. रणछोड़ाचार्यजी प्रथमेश

गोस्वामी परिषद् की बैठक में गो. नटवरगोपालजी (अहमदाबाद) गो. वल्लभलालजी (बंबई) गो. दीक्षितजी, गो. व्रजभूषणलालजी चोपासनी तथा अन्य गोस्वामी बालकों के साथ

गो. ब्रजभूषणलालजी (जामनगर) के साथ

अखिल भारतीय शुद्धाद्वैत वैष्णव संघ की सभा के अवसर पर गो. दीक्षितजी तथा अन्य गोस्वामी महानुभावों के साथ
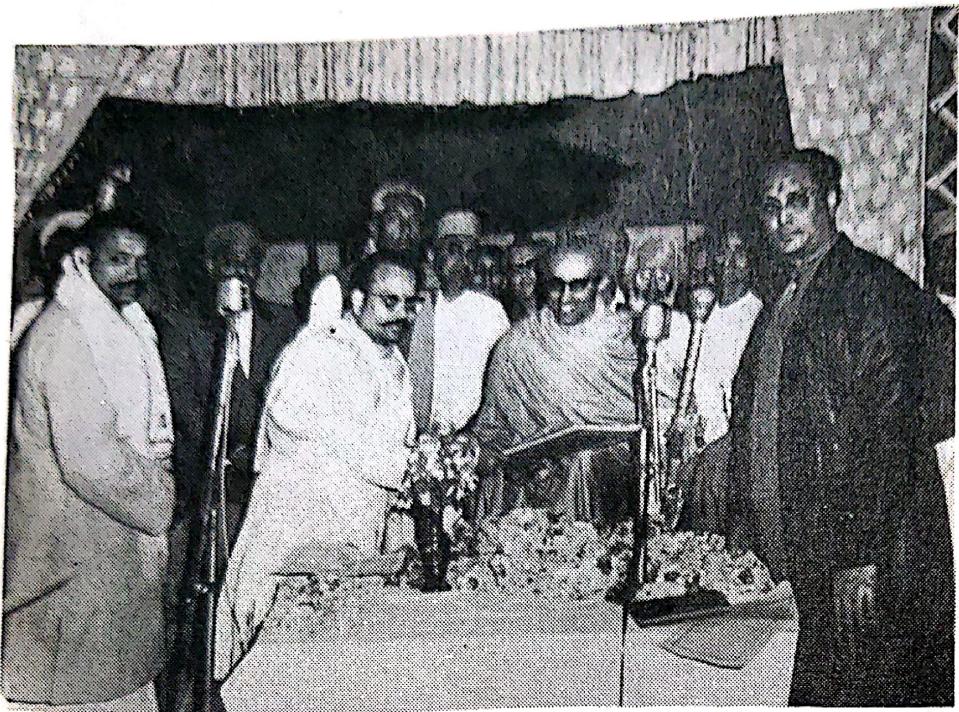
गो. तिलकायत श्री गिरधरलालजी, गो. नटवर गोपालाजी एवं गो. श्री ब्रजरमणजी के साथ

गो. श्री वल्लभरायजी दीक्षित (सूरत) के साथ

धर्माचार्य द्वय की मंत्रणा
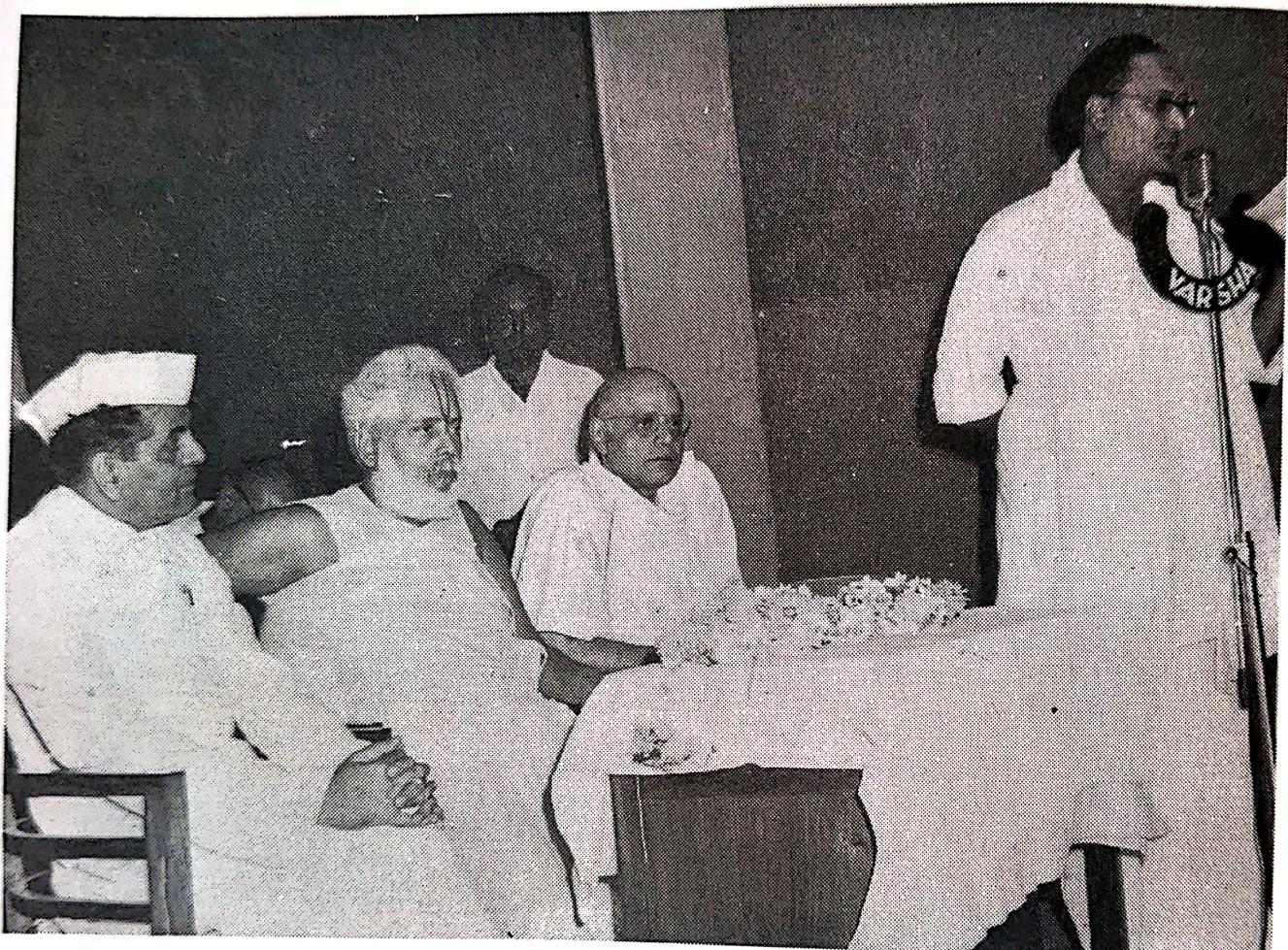
केन्द्रीय मंत्री और धर्माचार्य : प्रथमेश संबोधन

अ.भा.पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद् का हीरक जयन्ती महोत्सव १९८१

गो. व्रजभूषणलालजी (जामनगर) के साथ
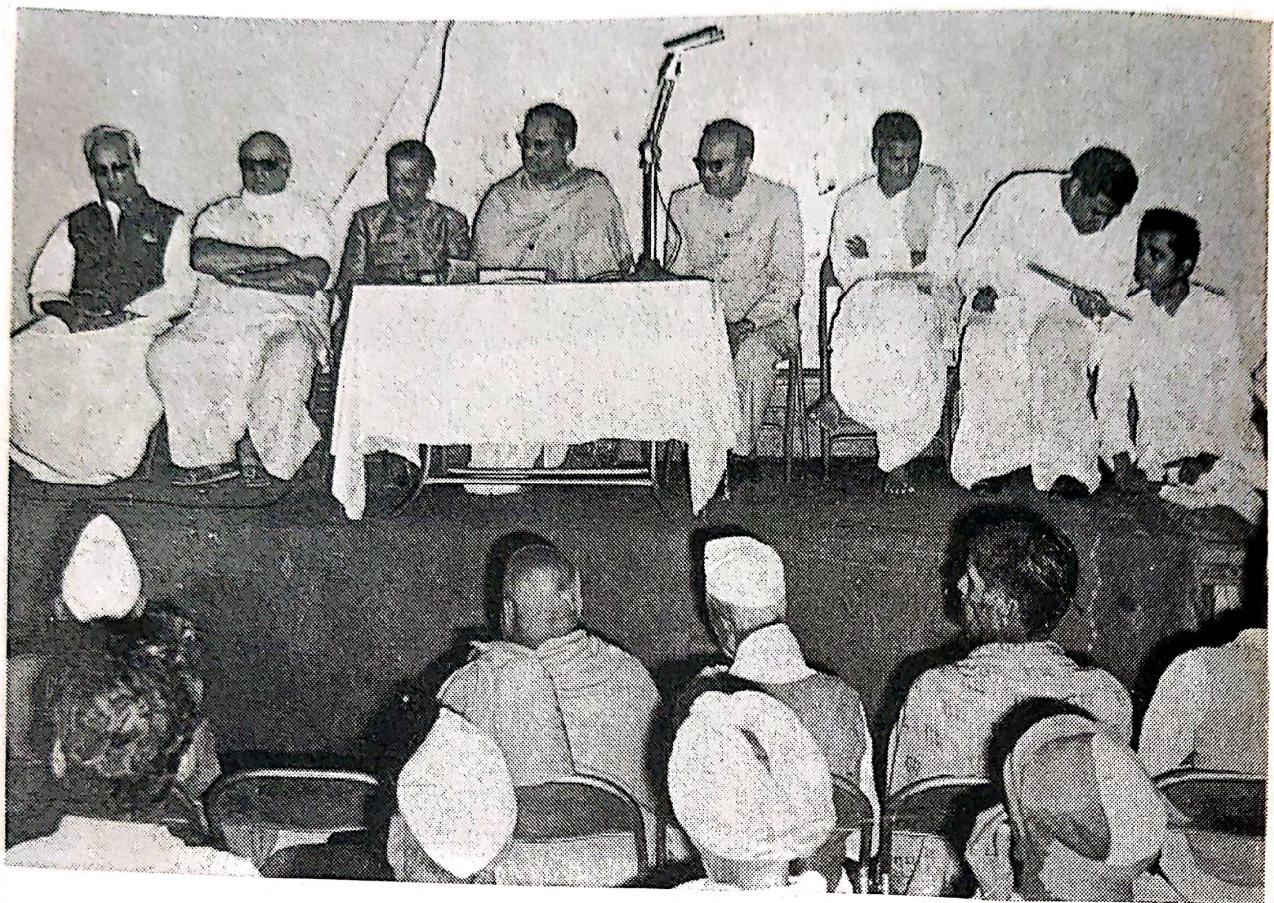
विचार विमर्श

स्वागतम्
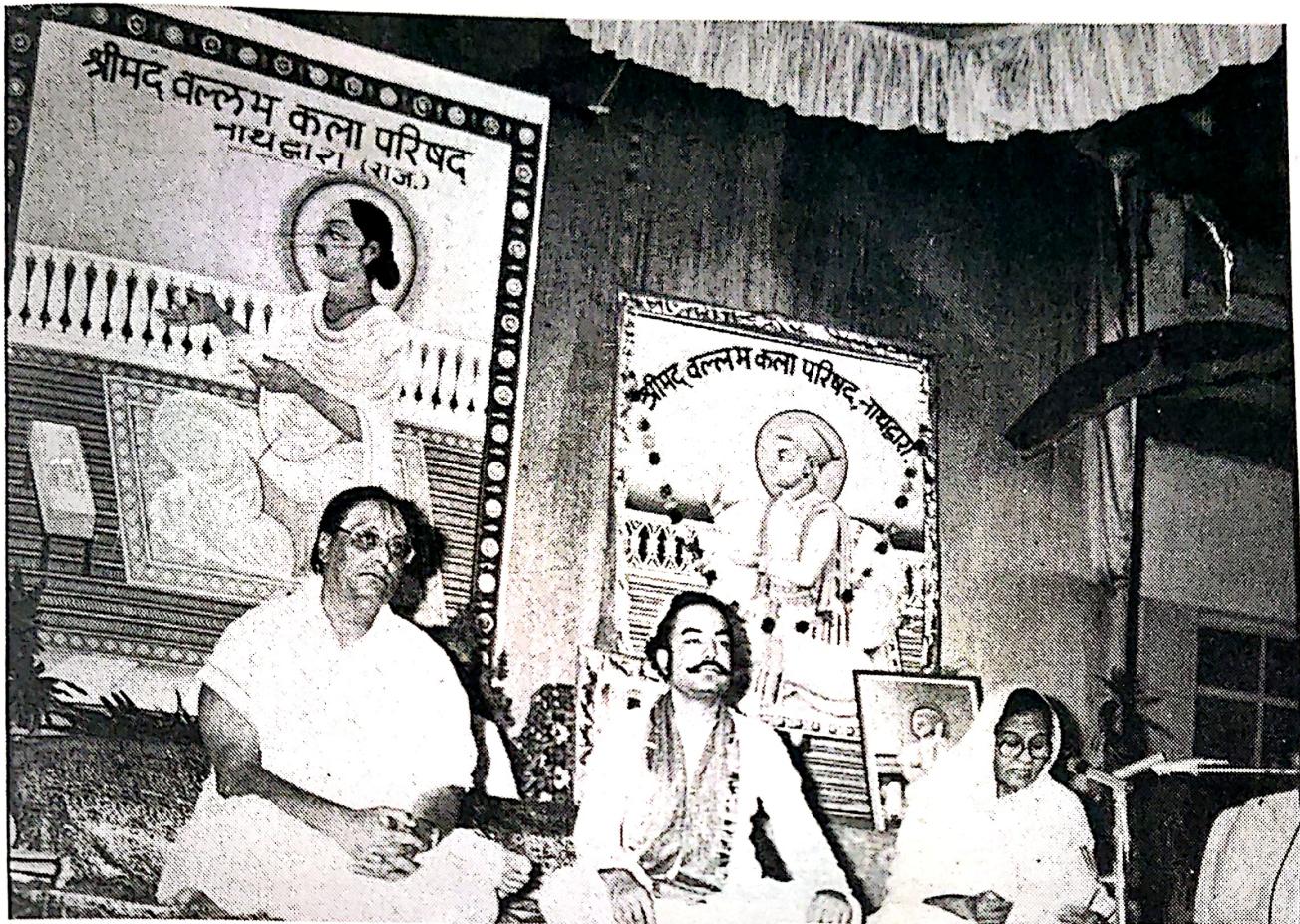
गो. श्री कल्याणरायजी के साथ

गो. श्री ब्रजभूषणलालजी (चापासनी) एवं गो. श्री पुरुषोत्तमलाजी (कोटा) के साथ
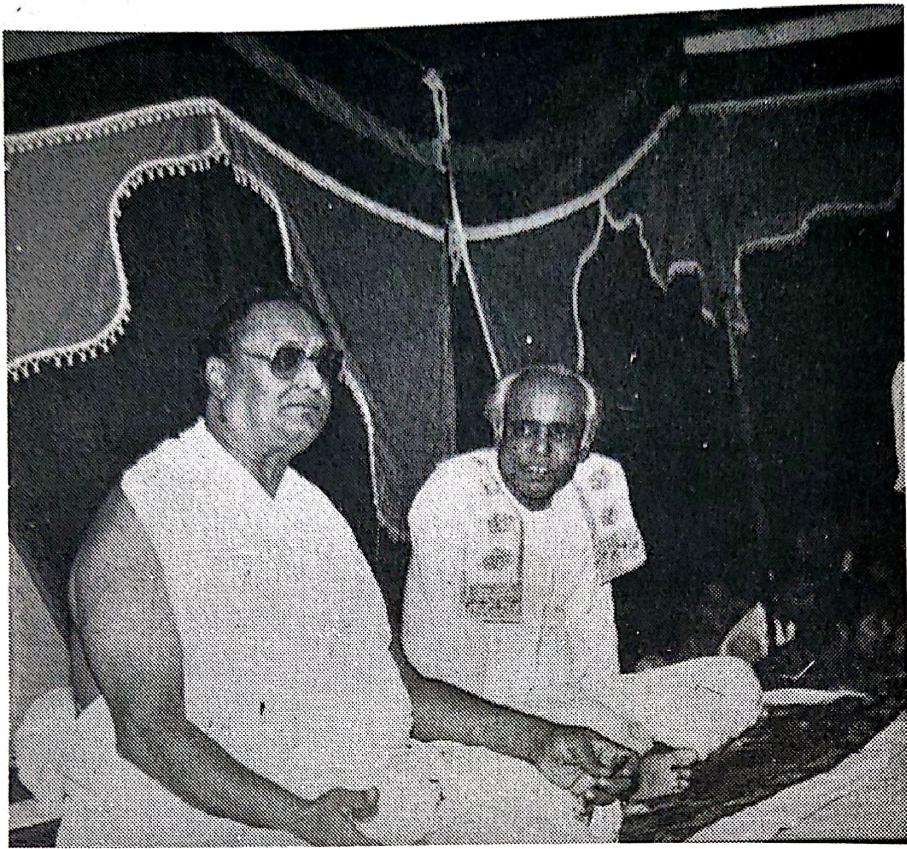
गो. श्री ब्रजाधीश के साथ
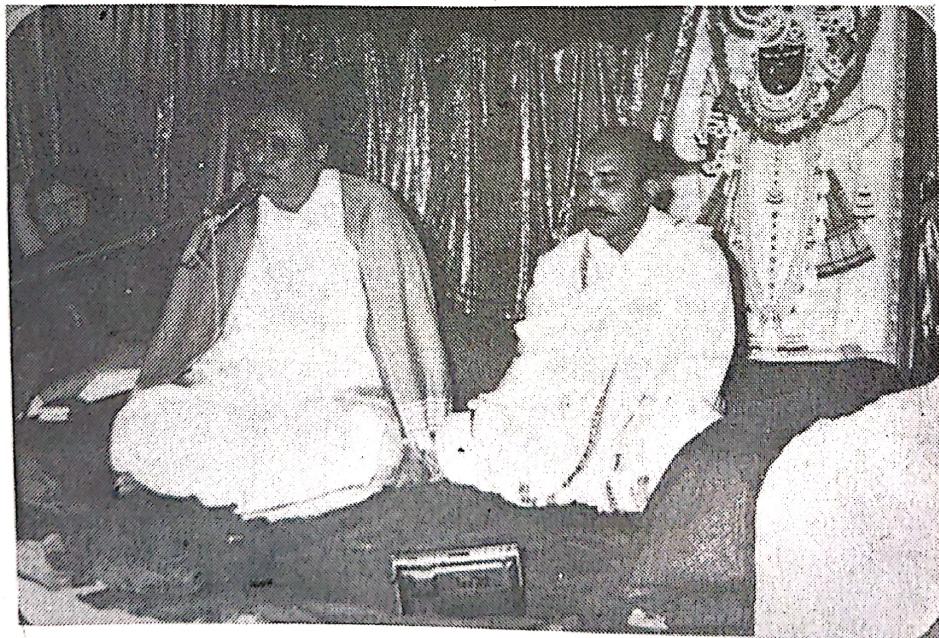
गो. श्री गोकुलोत्सवजी के साथ

संत समागम : स्वामी सत्यमित्रानंदजी के साथ

मैं तो सेवक के रूप में यही प्रार्थना करता हूं कि मैं आचार्यश्री के सिद्धान्त की अन्तिम क्षण तक सेवा करूं या फिर यह जीवन आपकी शरण में आ जाए.

—प्रथमेश

परषिद् में आज तक जो कुछ किया, वह मेरा धर्म था.

—प्रथमेश

मेरा काम वैष्णवों के दोष देखने का नहीं

अपने लोगों से भूल हो सकती है. सर्वथा निर्दोष तो प्रभु ही हैं. अपनी संस्था की छबि न बिगड़े और वैष्णवता संगठित हो, यही ध्येय होना चाहिए.. मेरा काम वैष्णवों के दोष देखने का नहीं है. उनके दोषों का निवारण हो, प्रभु से यही प्रार्थना करना मेरा कार्य है.

— प्रथमेश